विकेन (नीदरलैण्ड)
मार्च २२, १९९९

सन्देश संख्या १

गीता–सार (२.५५–७२)

अपनी धर्म पत्नी श्रीमती बीथिका लाहिड़ी के कैन्सर की अन्तिम अवस्था में उनके शनैः परलोक गमन का अवलोकन करते हुए गहन ध्यान की प्रक्रिया में श्री शिवेन्दु लाहिड़ी द्वारा जैसा अनु**भू**त हुआ।

इन १८ श्लोकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रकाशित वाक्य है – ''इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता''।

अपने विशेष महत्व के कारण यह वाक्य इन १८ श्लोकों के सार–समूह में दो बार आया है – श्लोक संख्या–५८ की दूसरी पंक्ति और पुनः श्लोक संख्या– ६८ की दूसरी पंक्ति के रूप में।

यह एक विध्वंसकारी सन्देश है क्योंकि यदि यह तुम्हारे ''त्वंभाव'' पर आघात करेगा तो विभेदकारी चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण विनाश हो जायेगा।

विचार तब अपनी स्वरूपावस्था अर्थात् असततता में होगा और वहाँ होगा एक पुनर्जागरण, रूपान्तरण एवम् अन्तर्दृष्टि तथा तुम्हारा जीवन पीड़ा, मनोव्यथा, उत्तेजना, दर्प, मात्सर्य, तनाव एवं विक्षो, आशंकाओं, अवदमित कामनाओं एवं वासनाओं व विकृति एवं वि**भ्र**म से मुक्त होगा। तब तुम पर विचार की गलाघोंटू पकड़ ढीली पड़ जायेगी और जागरूकता की एक क्रियाशील अवस्था का उदय होगा जो कि विभेदकारी नहीं बल्कि स्वरूप में एकात्मक है अर्थात् जहाँ पर उद्दीपन और अनुक्रिया का एकात्मक लय बन जाता है।

''क्रिया'' में दीक्षित व्यक्ति को ''क्रियान्वित'' अथवा ''क्रियावान'' कहा जाता है जिसका अर्थ है सचेतन क्रियाशीलता जिसमें कि न कोई धोखा खाता है न दूसरे को धोखा देता है।

वह सक्रिय रूप से आत्मकेन्द्रित गतिविधियों तथा मन की आत्म–संरक्षी यन्त्ररचनाओं के प्रति जागरूक रहता है।

यह सबसे महत्वपूर्ण पंक्ति जो गीता–सार में दो बार आयी है, बताती है कि इन्द्रियों (संवेदी प्रत्यक्षों) को स्वाभाविक रूप में उसी उद्देश्य के लिए कार्य करना चाहिए जिसके लिए वे अभिप्रेत हैं। गतानुगतिक एवम् पारम्परिक विचार धारायें इन्द्रियों के स्वाभाविक कार्य क्षेत्र में कुछ ऐसा हस्तक्षेप करती हैं जो कि सूक्ष्म अनुभूतियों को स्थूल कामना, वासना में परिवर्तित कर देता है। चित्तवृत्ति अनुभूति को प्रीतिकर व अप्रीतिकर में वर्गीकृत करती है और इस प्रकार आसक्ति–मोह का भव–चक्र आरम्भ हो जाता है। तत्पश्चात् चित्तवृत्ति में उस लालसा का दौर शुरू हो जाता है जिसके कारण प्रीतिकर की पुनरावृत्ति एवम् अप्रीतिकर की सम्पूर्ण निवृत्ति का दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है। यही है अन्तिम मोहासक्ति तथा जीवन प्रवाह में विभीषिका एवम् विध्वंस की शुरूआत।

यह महत्वपूर्ण वाक्य इंगित करता है कि सूक्ष्म तथा प्रत्यक्ष अनुभूति तो ठीक है किन्तु आसक्ति–मोह ही हमारे दुःख एवं दुःखभोग का मूल कारण है। अतः जब तक प्रत्यक्ष अनुभूति मोहासक्ति से प्रदूषित नहीं होती है, हमारी प्रज्ञा प्रतिष्ठित रहती है।

इस प्रकार जब तक पाँचों इन्द्रियाँ चित्तवृत्ति के हस्तक्षेप के बिना स्वाभाविक अवस्था में कार्यरत रहती हैं तब तक किसी भी प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती है।

श्लोक : ५५

जब मोहासक्ति पूरी तरह से मिट जाती है और जैसे ही चित्तवृत्ति इन्द्रियों की प्रत्यक्ष अनुभूति में मध्यस्थता करना पूर्णरूप से बंद कर देती है तब मन में कर्ता एवं क्रिया का विभेद समाप्त हो जाता है, अर्थात्

''निर्मम'' ''निरात्म'' अथवा ''निर्मन'' अवस्था के उदय के साथ ''मम'' एवं ''ममत्व'' का विलय हो जाता है। यही है पूर्ण समत्व में प्रतिष्ठा।

श्लोक : ५६

इस साम्यावस्था में तुम विरोधों के गलियारे से बाहर आ जाते हो। तब तो न सुख तुम्हारा न दुःख; न तो अनुरक्ति तुम्हारी न अरूचि; न भय तुम्हारा न निर्भीकता; न कायरता तुम्हारी न साहस; न क्रोध तुम्हारा न सौम्यता; न विजय तुम्हारी और न पराजय।

श्लोक : ५७

स्थितप्रज्ञावस्था में न तो शुभ तुम्हारा न अशुभ; न सम्मान तुम्हारा न अपमान।

श्लोक : ५८

विकल्परहित सचेतनता में इन्द्रियाँ वस्तुतः उसी रूप में कार्य करती हैं जिसके लिए वे अभिप्रेत हैं अन्यथा ये सभी पंचेन्द्रियाँ कछुवे के अंगों की तरह सिमटी (तथापि सतर्क) रहती हैं और इस प्रकार आसक्ति मोह का परिहार हो जाता है।

श्लोक : ५६

जब आसक्ति इस प्रकार अपोषित रह जाती है तब इन्द्रियों के आभ्यंतर प्रत्यक्ष बोध उस परम पवित्र का उन्मोचन करते हैं जो कि अहम् भाव के विलय से ही संभव होता है।

श्लोक : ६०

एक स्थिर बुद्धि व्यक्ति समत्वभाव में प्रतिबद्ध होने के बावजूद भी मन की विषयासक्ति (इन्द्रियों के विक्षेप) द्वारा अभिभूत कर लिया जाता है।

श्लोक : ६१

जब चित्तवृत्ति के समस्त बंधनों का नियमन हो जाता है और सभी अव्यवस्थाएँ पूरी तरह से समाप्त हो जाती हैं, संतुलित एवं ''निर्मन'' (कृष्ण) स्थिति प्राप्त होती है। जब इन्द्रियाँ व्यवस्थित होती हैं अर्थात् वासनाओं से दूषित न होकर पूर्ण स्वरूप में कार्य करती हैं तब प्रज्ञा/सचेतनता प्रतिष्ठित होती है।

श्लोक : ६२

संसर्ग से विषय के प्रति मोह/छवि/कामना उत्पन्न होती है और तब लालसा पैदा होती है तथा इसके उपरान्त निश्चय ही नैराश्य एवं क्रोध की उत्पत्ति होती है।

श्लोक : ६३

क्रोध से सम्मोह (मूढ भाव/अविचार) का आवरण उत्पन्न होता है तथा वहाँ से प्रत्यक्ष बोध विक्षिप्त हो जाता है और तब व्यक्ति प्रज्ञा से वियुक्त हो जाता है तदुपरान्त निश्चय ही उसका महान कृपा से अधःपतन हो जाता है।

श्लोक : ६४

सहजावस्था में रहना अर्थात् विभेदकारी स्थूल अहम् केन्द्र जो कि अव्यस्था है से परे रहना–मुक्ति की स्थिति है न कि बंधन की। यह है वह सूक्ष्म अद्वितीयता जो कि पूर्ण व्यवस्था है। इस प्रकार की स्थिति में व्यक्ति एक मंगलमय अवस्था में प्रवेश कर जाता है और यह केवल तभी संभव है जब इन्द्रियाँ विषयों के साथ संसर्ग के समय पूर्ण समत्व में कार्य करती हैं। केवल बुद्धि की साम्यावस्था में ही इन्द्रियाँ सहजावस्था में कार्य करती हैं और आसक्ति में उनके परिवर्तन एवं ङ्गलस्वरूप लालसा (जो कि दुःख का मूल कारण है) से बचा जा सकता है।

श्लोक : ६५

शुद्ध प्रत्यक्ष बोध की मंगलमय अवस्था में सम्पूर्ण दु:खों की परिसमाप्ति हो जाती है और प्रज्ञा की प्रमुदित एवम् आनन्दमय अवस्था की संगति के साथ व्यक्ति निश्चित रूप से पूर्णता में स्थित हो जाता है।

श्लोक : ६६

शान्ति उसे प्राप्त नहीं हो सकती है जो प्रज्ञा एवं सचेतनता से संयुक्त नहीं है और शांति का अभाव आनन्द के अभाव को इंगित करता है अर्थात् जीवन की सम्पूर्णता के साथ सामंजस्य का अभाव।

श्लोक : ६७

मन जो कि मोहासक्ति के पकड़ में है उसकी प्रज्ञा लुप्त हो जाती है और इस प्रकार झंझावात में ङ्गँसी नाव की तरह डगमगाने लगता है।

श्लोक : ६८

जिस पुरूष की इन्द्रियाँ अपने स्वरूप में उस उद्देश्य के लिए कार्य करती हैं जिसके लिए वे अभिप्रेत हैं वह पूर्ण रूप से अनासक्त हो जाता है और इस प्रकार उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

श्लोक : ६६

जिसके चित्तवृत्ति की आपाधापी संतुलित हो जाती है वह क्रियाशील सचेतनता में जागरूक रहता है जबकि दूसरे प्रतिक्रियाओं के बंधन के अंधकार में पड़े रहते हैं। जब दूसरे ऐन्द्रिक भोग–विलास के उपभोग में लगे रहते हैं, प्रज्ञावान पुरूष इसे अंधकार के रूप में देखते हैं।

श्लोक : ७०

जो ऐन्द्रिक भोगविलास को चाहता है वह शांति को नहीं प्राप्त कर सकता है किन्तु जिसमें आकांक्षाएँ एवं कामनाएँ स्वाभाविक रूप से उत्पन्न एवं समाप्त होती हैं, शांति को प्राप्त करता है और उसी तरह से अनुद्विग्न एवं प्रशांत रहता है जैसे कि अपने में प्रवाहित एवं समा जाने वाली नाना नदियों के जल से समुद्र अविचलित रह जाता है।

श्लोक : ७१

जो कि अनासक्त एवं निरहंकार अवस्था में रहता है वह निश्चय ही परम शांति के साम्राज्य में प्रवेश करता है।

श्लोक : ७२

मनुष्य सदैव भ्रांत रहता है क्योंकि ऐसी ब्राह्मी स्थिति (एकात्म बोध की अवस्था) अप्राप्त रहती है। किन्तु जीवन के अन्तकाल में भी यदि किसी में ऐसी अवस्था का आविर्भाव होता है तो वह निश्चय ही अनिवर्त्य परम मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

हरि तत् सत्

हर हर शम्भो